परखूंगी। तो यह शहरी स्कूलों में बेहतर काम कर सकता है जहां देश पैसा खर्च करता है और संस्थाएं मौजूद हैं। यदि जन विज्ञान आंदोलन शुरुआत से शुरू करते हैं, तो यह उनके लिए बहुत ज़्यादा होगा। यदि हम वैज्ञानिक मिज़ाज चाहते हैं, तो इसके लिए कई अन्य बेहतर रास्ते हैं। मैं यही कह रही थी, दूर-दराज़ के इलाकों में जाने की बजाय शहरों की ओर चलें, इन चीज़ों के बारे में बात करें।

अध्यक्ष : एक बार फिर धन्यवाद। अब मैं प्रोफेसर मैथ्यूज़ से निवेदन करूंगा कि वे अपनी बात कहें।

माइकल मैथ्यूज़

मैं दो बातें संक्षेप में रखना चाहता हूं। पहले मैं वही बात दोहराना चाहूंगा जो मैंने उस दिन रोशनख्याली पर चर्चा करते हुए कही थी कि मैं बहुत से हिस्से जल्दबाज़ी में कर रहा था। यदि नाव के मुहावरे को पलट दें, तो आप कह सकते हैं कि मैं हवा का रुख अपनी पाल के अनुरूप बदल रहा था, और मैं चाहता था कि प्रमुख बिंदु कम से कम समय में पूरे कर लूं। यदि किसी को उस व्याख्यान का पूरा संस्करण चाहिए, जो करीब 30 पन्ने का है और उसमें सैकड़ों संदर्भ हैं, तो कृपया मुझे ईमेल कर दें। मुझे वह पर्चा भेजकर खुशी होगी। एक तरह से यह मेरी अगली किताब की शुरुआत है, जो अगले दो सालों में पूरी करने की कोशिश कर रहा हूं। यदि मैंने बहुत हड़बड़ी की थी या लोगों को आहत किया था, तो अपेक्षाकृत नव-विज्ञान संस्करण शायद कम तकलीफदेह होगा।

मैं यहां तीन बातें रखूंगा जो यहां चर्चाएं सुनते उभरी हैं। पहली है निर्माणवाद (constructivism)। मैं बहुत भयभीत हूं कि भारत ने इसे अपने राष्ट्रीय पाठ्यक्रम ढांचे में अपनाया है, न सिर्फ विज्ञान के लिए बल्कि हर चीज़ के लिए। यह एक निराशाजनक शैक्षिक कदम है। मगर दुखद बात यह है कि इस मामले में भारत अकेला नहीं है। थाइलैण्ड और तुर्की ने करीब तीन साल पहले यही किया था। न्यूज़ीलैण्ड ने 13-14 साल पहले यही किया था। जब मैं ऑकलैण्ड विश्वविद्यालय में प्रोफेसर था, तब निर्माणवाद न्यूज़ीलैण्ड के शैक्षणिक कार्यक्रम का मार्गदर्शक सिद्धांत था। मैं सिडनी से हूं। मेरा दार्शनिक प्रशिक्षण सिडनी में हुआ है। सिडनी एक तरह से ऑस्ट्रेलिया के यथार्थवाद का धड़कता दिल है। और मैंने अपनी मां के दार्शनिक दूध के साथ यथार्थवाद का पान किया है। तो जब मैं ऑकलैण्ड पहुंचा और देखा कि वे सब निर्माणवादी हैं, तो मैं बुझ-सा गया। वहां पूरे देश में लगातार संघर्ष चल रहा था, टेलीविज़न और रेडियो पर, अखबारों में, और सब कुछ चलता है। आगे चलकर मैंने पूरे मामले पर एक किताब लिखी थी। यह किताब बहुत कम दामों पर, 15 रुपए के आसपास उपलब्ध है।

खैर, मैं यहां निराश हुआ हूं। जैसा कि मैंने बताया निर्माणवाद के साथ मेरी शुरुआती दिक्कत दार्शनिक थी। मैं सोचता था कि निर्माणवाद में गहरी दार्शनिक गड़बड़ी है। यह निर्माणवाद के सिद्धांत के प्रति एक यथार्थवादी की प्रतिक्रिया है। मैंने दार्शनिकों द्वारा लिखे गए विभिन्न निर्माणवाद-विरोधी पर्चे इकट्ठे किए थे। ये मेरे द्वारा 1998 में संपादित पुस्तक - *कंस्ट्रक्टिविज़्म इन साइन्स एडूकेशनः ए फिलॉसॉफिकल एक्ज़ामिनेशन* (शिक्षा में निर्माणवादः एक दार्शनिक परीक्षण) - में संकलित किए गए थे। उसमें एक आलेख है, जिसकी ओर मैं आपका ध्यान दिलाना चाहूंगा। यह करीब 15 वर्ष पहले लिखा गया था। मेरे विचार में निर्माणवाद की सबसे विस्तृत दार्शनिक समीक्षा डब्लू. सुक्टिंग ने लिखी है जो 1992 में *साइन्स एण्ड एडूकेशन* नामक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। यह उस पत्रिका के पहले अंक में छपा एक आलेख था जिसमें निर्माणवाद के सारे दार्शनिक ढोंग का अत्यंत गहन, विद्वत्तापूर्ण, गहन तर्कों पर आधारित, सर्वाधिक निश्चयात्मक उच्चार किया गया था।

शुरुआत में, जब मैं न्यूज़ीलैण्ड में था, उस समय मैं निर्माणवादी शिक्षा पद्धति को लेकर कमोबेश सहज था - उस समय यह मेरा सरोकार ही नहीं था। तब से मैं शिक्षा पद्धति को लेकर काफी सख्त-दिमाग हो गया हूं। निर्माणवादी शिक्षा पद्धति एक भूल है। यह गलत है, गलत है, गलत है। मैं खुद प्रयोग आधारित शोध नहीं करता। रिचर्ड मेयर एक व्यक्ति हैं जो करते हैं। रिचर्ड मेयर *अमेरिकन सायकोलॉजि ल एसोसिएशन* के अध्यक्ष हैं, और *अमेरिकन एडूकेशन रिसर्च एसोसिएशन* के प्रतिष्ठित सदस्य हैं। वे शिक्षा में प्रयोग आधारित अनुसंधान में एक प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। *अमेरिकन साकोलॉजिस्ट* में प्रकाशित एक आलेख में उन्होंने निर्माणवदी शिक्षा पद्धति की प्रभाविता को लेकर किए गए सैकड़ों अध्ययनों का सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है। उनका निष्कर्ष है कि निर्माणवादी शिक्षा पद्धति पूरी तरह प्रभावहीन है। बच्चे कुछ नहीं सीखते। मैंने खुद ऑस्ट्रेलिया में अपने बच्चों पर इसके भयावह असर देखे हैं। ऑस्ट्रेलिया ने औपचारिक रूप से निर्माणवाद को नहीं अपनाया है, मगर मेरे बच्चों की बदकिस्मती थी कि वे एक ऐसे स्कूल में भर्ती हुए जहां निर्माणवाद ने थोड़ी लोकप्रियता हासिल कर ली है और मेरे बच्चे ऐसी चीज़ों के साथ घर लौटते थे कि मुझे रुलाई आ जाती थी। खैर, हम काफी समय तक रोते रहे, फिर मेरी पत्नी और मैं इंटरनेट पर सिंगापुर गए और हमने सिंगापुर की विज्ञान पुस्तकें मंगवाईं, और हमने सिंगापुर की गणित पुस्तकें मंगवाईं और हम अपने बच्चों को कदम-दर-कदम सिंगापुर के कार्यक्रम में लेकर गए। अंतर यह है कि सिंगापुर कार्यक्रम में चीज़ें बहुत विस्तार में, चरणबद्ध ढंग से पढ़ाई जाती हैं, जिससे बच्चों को आनुपातिक तर्क जैसी बातों को समझने का थोड़ा मौका मिलता है। तो दार्शनिक समस्याओं से शुरू करके मैं शिक्षा पद्धति सम्बंधी समस्याओं तक पहुंचा। यह तीन में से दूसरा बिंदु है जो मैं यहां प्रस्तुत करना चाहता था।

सवाल है कि आप कैसी शिक्षा पद्धति चाहते हैं। और यह वास्तव में मेरा क्षेत्र नहीं है। मैं तो एक दार्शनिक हूं। मैं इस तरह का प्रयोग आधारित कक्षाई कार्य नहीं करता। मगर जिस हद तक भी मेरा इससे सरोकार है, मैं ऐतिहासिक अन्वेषणात्मक शिक्षण नामक चीज़ का सुझाव दूंगा। इसमें बच्चे प्रयोग कार्य करते हैं, एक तरह से बच्चे चीज़ों पर काम करते हैं, तर्क करते हैं, और सबसे महत्वपूर्ण बात कि बच्चे ऐतिहासिक अध्ययन करते हैं। एक भूतपूर्व सोवियत भौतिक शास्त्री नाहुम किपनिस ने इसके अद्‌भुत मॉडल्स प्रस्तुत किए हैं। पहली पुस्तक है *रीडिस्कवरिंग ऑप्टिक्स*, दूसरी है *रीडिस्कवरिंग इलेक्ट्रिसिटी*। इन दो सुंदर पुस्तकों में किपनिस करते रह हैं कि बच्चों को ऑप्टिक्स के इतिहास में ले जाते हैं, बिजली के इतिहास में ले जाते हैं, एक तरह से वे ऑप्टिक्स की, विद्युत की फिर से खोज करते हैं। वे बहुत सरल गैल्वेनिक सेल बनाते हैं। वे इन्हें बनाते हैं, इन पर चर्चा करते हैं और बहस करते हैं कि हो क्या रहा है - 'तुम्हें क्या लगता है?' धातुओं और कार्डबोर्ड की एक थप्पी और साबुन का पानी एक बल्ब को जगमग कर देते हैं। कोई यह सोचता है, कोई कुछ और सोचता है, वे चर्चा करते हैं, बहस करते हैं। किपनिस उन्हें उनके स्तर के अनुरूप कुछ पढ़ने को देते हैं। वे सम्बंधित बहसें पढ़ते हैं, वगैरह-वगैरह। अद्‌भुत प्रणाली है। मैंने खुद इसी तरह का काम पेंडुलम के साथ करने का प्रयास किया है। बच्चे पेंडुलम की गति के अध्ययन के इतिहास में जाते हैं। हमने अक्टूबर में सिडनी में एक सम्मेलन किया था। मुझे यह देखकर बहुत अच्छा लगा था कि एक जापानी व्यक्ति, जिसने पेंडुलम गति अध्ययन सम्मेलन में योगदान दिया था, अपने साथ जापान के मिडिल स्कूल में इस्तेमाल की जाने वाली किताब लिए है। कमल इस बैठक में था, और मेरे ख्याल में वह भी उतना ही प्रभावित हुआ था। इस किताब के मुख पृष्ठ पर गैलीलियो है और पिछले कवर पर ह्यूजेन्स है। और पुस्तक में पेंडुलम सम्बंधी कई सारी रोचक गतिविधियां हैं। सारी गतिविधियां ऐसी हैं जो किसी न किसी ऐतिहासिक संदर्भ में की जाती हैं। बच्चे एक बार फिर इससे होकर गुज़रते हैं। यह हमारे लिए नया नहीं है, मगर उनके लिए तो नया है।

यह आधुनिक विज्ञान की खोज नहीं है मगर उनके लिए तो यह खोज ही है। तो वे उन्हीं पदचिन्हों पर चलते हैं।

तो इस ऐतिहासिक अन्वेषणात्मक तरीके के बारे में क्या कहा जा सकता है? दो बातें कही जा सकती हैः एक चीज़ जो मेरे ख्याल में काफी महत्वपूर्ण है कि इससे परंपरा का एक एहसास विकसित होता है। यह इस बात से जुड़ता है जो कल कही गई थी, मैं उस व्यक्ति का नाम नहीं सुन पाया था जिसने यह सवाल पूछा था कि क्या हम एक वैज्ञानिक की बात की अदला-बदली किसी धर्मात्मा की बात से कर सकते हैं? ऐसा करते हुए हम इतना ही तो कर रहे हैं कि ज्ञान की एक सत्ता की बात की जगह दूसरी सत्ता की बात को रख रहे हैं। खैर, मुझे लगता है कि इस तरह से इतिहास के पुनः प्रस्तुतीकरण से एक फायदा होता है कि बच्चों को यह एहसास मिलता है कि वैज्ञानिक सत्ता एक परंपरा में से उभरती है, जिसके पास सफलता का कुछ इतिहास है, कि लोगों ने इसे सफलतापूर्वक विकसित किया है। उन्होंने इसमें फेरबदल किया है, उसे आगे बढ़ाया है, बढ़ाते गए हैं। तो बच्चे एक परंपरा के साथ जुड़ पाते हैं। यह तो मानना होगा कि भारतीय बच्चों को एक परंपरा से जुड़ने में दिक्कत होगी। मगर भारत में ज़रूर पेंडुलम परंपराएं होगी। मुझे इसके बारे में कोई जानकारी नहीं है।

परंपरा का एहसास एक फायदा है; दूसरा फायदा सरल टेक्नॉलॉजी का है। यदि आप ऐतिहासिक सामग्री को लेते हैं, तो टेक्नॉलॉजी सरल और सस्ती है। मैंने अपनी दो किताबों में जो उदाहरण विकसित किया है, वह समय मापन का है। बच्चे इन चीज़ों को देखते हैं, या उसी तरह की चीज़ें देखते हैं कि आखिर क्यों चीज़ें विकसित हुई हैं। मगर यदि आप पेंडुलम पर लौटते हैं, और उन्हें डुलाते हैं और बच्चों से एक सरल पेंडुलम बॉक्स बनवाते हैं, तो उन्हें कुछ अंदाज़ लगता है कि समय मापन का चक्कर क्या है।

और उसके बाद तीसरी और अंतिम बात प्रोफेसर राजेंद्र सिंह की एक टिप्पणी से याद आई है जो उन्होंने विज्ञान अध्ययनों, सांस्कृतिक अध्ययनों की एक सर्वव्यापी समस्या और विज्ञान की आलोचना के संदर्भ में कही थी। मैं इसे रेखांकित करना चाहता हूं क्योंकि मैंने अलग-अलग प्रकाशनों में खुद इसके बारे में लिखा है - वह है सैद्धांतिक व वास्तविक चीज़ों के बीच अंतर। मैंने एक भौतिक वस्तु का उदाहरण देने की कोशिश की है, संतरा। जब कोई वैज्ञानिक, कोई भौतिक शास्त्री संतरे को प्रस्तुत करता है, तो वह एक बिंदु पिण्ड होता है। वास्तविक वस्तु एक संतरा है, सैद्धांतिक वस्तु एक बिंदु पिण्ड (point mass) है। इन दोनों में अंतर है और कोई कहगा कि "ओह, विज्ञान यथार्थ विश्व को नहीं पकड़ पाता। विज्ञान अपर्याप्त है, वह रंग और भावनाओं वगैरह का प्रस्तुतीकरण नहीं कर पाता।" ज़ाहिर है वह यथार्थ वस्तु है, सैद्धांतिक वस्तु एक बिंदु पिण्ड है। उसमें कोई रंग नहीं है, स्वाद नहीं है।

यह भी स्पष्ट है कि वास्तविक वस्तु का सैद्धांतीकरण कई तरह से किया जा सकता है। भौतिक शास्त्री संतरे को एक बिंदु पिण्ड के रूप में प्रस्तुत करते हैं। मार्क्सवादी अर्थशास्त्री इसे एक ऐसी वस्तु के रूप में प्रस्तुत करेंगे जिसमें कुछ श्रम मूल्य निहित है, पोषण वैज्ञानिक बताएंगे कि इसमें निश्चित कैलोरी हैं। तो उतनी कैलोरी में भी कोई रंग नहीं है, कोई स्वाद नहीं है, इनमें से कुछ भी नहीं है। एक बार जब वस्तु का सैद्धांतीकरण कर देते हैं, तो आप वास्तविक वस्तु की कई चीज़ें गंवा देते हैं। मगर यही तो विज्ञान है।

मेरा दूसरा उदाहरण पेंडुलम का ही है। मैं इस उदाहरण का उपयोग करता हूं क्योंकि मैंने अपने कुछ पर्चों में सैद्धांतिक-भौतिक वस्तु के भेद की ऐतिहासिक उत्पत्ति पर विचार करने की कोशिश की है। यह बाईं ओर सैद्धांतिक पेंडुलम है जिसका दोलन काल 2 (l/g) है। वास्तविक पेंडुलम का दोलन काल इतना नहीं है।

गैलीलियो के मुताबिक सैद्धांतिक पेंडुलम तो हज़ारों दोलन करता है, मगर वास्तविक पेंडुलम 40 दोलन के बाद रुक जाता है। कुल मिलाकर गैलीलियो और उनके संरक्षक डेल मोन्ट के बीच यही तकरार हुई थी। डेल मोन्ट का कहते रहे "गैलीलियो, तुम पेंडुलम के बारे में जो कुछ कह रहे हो, वह गलत है, पेंडुलम तो रुक जाता है, हल्के और भारी लोलक के दोलन काल अलग-अलग होते हैं", वगैरह, वगैरह। वे कहते रहे, "गैलीलियो तुम एक महान गणितज्ञ हो, इसलिए मैंने तुम्हें गणित के प्रोफेसर के रूप में दो नौकरियां दिलावाईं मगर तुम एकदम बेकार भौतिक शास्त्री हो, भौतिक शास्त्र से हम उम्मीद करते हैं कि वह हमें बताए कि दुनिया कैसी है।" इस पर जो गैलीलियो कहते हैं, सोच समझकर नहीं, मगर आज हम सोच सकते हैं कि वे यह कह रहे थेः "मैं कर यह रहा हूं कि सैद्धांतिकृत वस्तुओं का विकास कर रहा हूं, सैद्धांतिक पेंडुलम, और गणितीय ढंग से इन चीज़ों के गुण पता कर रहा हूं, इनका तालमेल इस पेंडुलम से होना ज़रूरी नहीं है, यह पेंडुलम तो क्रमशः धीमा होता जाता है, घर्षण का असर होता है, हवा का प्रतिरोध वगैरह होता है", और डेल मोन्ट कहते रहे कि "यह विज्ञान नहीं है।" गैलीलियो ने जिस चीज़ का विकास किया था उसी को हम 'नया विज्ञान' कहते हैं। यह नए विज्ञान का एक महत्वपूर्ण पहलू है। और इसे न समझ पाने की वजह से हर किस्म की गुमराह, निराधार बहसें पैदा होती हैं।

चर्चा

सुशील जोशी : आपने सैद्धांतिक वस्तु बनाम वास्तविक वस्तु की बात की और दोनों उदाहरण भौतिक शास्त्र से लिए। यह समस्या खास तौर से जीव विज्ञान में भी उठती है जहां प्रारूपिक चीज़ की धारणा का विकास किया गया है, प्रारूपिक कोशिका, प्रारूपिक फूल, प्रारूपिक पौधा, प्रारूपिक जंतु। यह धारणा खोजबीन के किसी स्तर पर किसी चीज़ को समझने में बहुत मददगार हो सकती है, मगर जहां तक विज्ञान शिक्षा का सवाल है, बच्चों को ये अवधारणाएं समझने में बहुत दिक्कत होती है क्योंकि एक प्रारूपिक कोशिका, प्रारूपिक फूल कहीं नहीं मिलते और बच्चों के लिए हर चीज़ का अमूर्तीकरण करना मुश्किल होता है।

माइकल मैथ्यूज़ : हां, मैं सहमत हूं। सवाल के लिए शुक्रिया, यह एक व्यापक समस्या है, न सिर्फ जीव विज्ञान में बल्कि समाजिक विज्ञान वगैरह में भी। जैसे किसी कक्षा (के विद्यार्थियों) का औसत वज़न एक महत्वपूर्ण सैद्धांतिक विचार है। लोग औसत वज़न, औसत कद, हर चीज़ का औसत देखना चाहते हैं, जबकि कक्षा में किसी की भी ऊंचाई औसत नहीं होती, इसका मतलब यह नहीं कि औसत वज़न या ऊंचाई या स्वास्थ्य आदि की धारणा महत्वपूर्ण नहीं है। औसत की धराणा एक सैद्धांतिकृत चीज़ है, यह कक्षा में किसी भी छात्र से मेल नहीं खाती, तो बात का मतलब देखना कठिन होता है। मगर अमूर्तीकरण की यह समस्या एक गंभीर शैक्षणिक समस्या है और यह एक ऐसी समस्या है जिसके साथ शिक्षकों का सामना, अपने प्रशिक्षण के दौरान भी पर्याप्त रूप से नहीं हुआ होता। इसलिए वे न तो एक औसत या प्रारूपिक फूल को खुद समझ पाते हैं और न बच्चों को समझा पाते हैं कि प्रारूपिक फूल ऐसा कोई खास फूल नहीं है जिसे बच्चे ने देखा हो।

हसन : मेरा सवाल लंदन से आई महिला के लिए है। यह आपकी उस बात से सम्बंधित है जिसमें आपने लालू और मायावती को एक समस्या बना दिया। तो कोई और व्यक्ति क्यों नहीं? सिर्फ लालू और मायावती क्यों? क्योंकि राजनीति व अन्य क्षेत्रों में दलितों और पिछड़ों के उभार की समस्या का वैज्ञानिक मिज़ाज या मार्क्सवाद से कोई सम्बंध नहीं है, जिनकी बात हमने की। तो यह एक सर्वथा अलग चीज़ है, और यदि आपके मन में

लालू और मायावती के खिलाफ इतना गुस्सा है, तो यह दर्शाता है कि यह आपके अपने अंदर बैठी जाति भावना के कारण है और इसके साथ आप यह दावा नहीं कर सकतीं कि आपमें वैज्ञानिक मिज़ाज है। ऐसी ही या इससे भी बुरी बातें उड़ीसा जैसे राज्यों में हुई हैं, जहां लोग फलों के बीज खाते-खाते मर गए, मगर आप बिजू पटनायक का नाम नहीं लेतीं। राजस्थान में सड़ी दलिया और अन्य चीज़ें हुई हैं, मगर आपने वसुंधरा राजे सिंधिया का नाम नहीं लिया, न ही आपने यह कहा कि अटल बिहारी वाजपेयी या अन्य लोगों को फांसी दे देना चाहिए मगर आपने सिर्फ लालू का नाम लिया और कहाः "उस आदमी को खींचकर फांसी दे दो।" तो कृपया स्पष्ट करें।

जयश्री रामदास : मैं जयश्री हूं। मेरा सवाल भी मीरा नंदा से और लंदन से पधारी महिला से है। मेरा सवाल, मैं जानबूझकर उकसाने की कोशिश कर रही हूं और मैं यहां भड़काऊ बात कहने से डर रही हूं। मैं सोच यह रही हूं कि क्या हम दूसरों को गैर-तार्किक बताने का प्रयास करने में लगे हैं। मैं उस उदाहरण की बात कर रही हूं जिसकी चर्चा आप कर रही हैं। मेरा मतलब है कि क्या हमें यह नज़र नहीं आता कि हिंसा, हिंसा करने की क्षमता वास्तव में हम सबमें हैं। हम अंधविश्वास को एक बहाना बना लेते हैं, अपने रिवाज़ों को अपने अंदर की उस हिंसा को ढंकने के लिए इस्तेमाल करते हैं जो अभिव्यक्त हो जाती है।

मनीषा प्रियम : सिद्धांततः वास्तव में, यदि हम सबमें उस तरह की हिंसा है, जो आप कह रही हैं कि है, यदि इसका कोई प्रमाण है, तो वाकई उन सब लोगों के लिए, जिनके आपने नाम लिए हैं, मेरा सिद्धांत यह होगा कि उन्हें संस्थागत प्रक्रिया में लाया जाए और जबावदेह ठहराया जाए। और यह बात सब पर लागू होती है, चाहे कोई भी हो। और इसीलिए मेरे तर्क का अंतिम हिस्सा यही था कि विकल्प या वास्तव में आगे बढ़ने का नक्शा, और एक वैकल्पिक क्षेत्रीय सोच सामाजिक न्याय के मंच के विचारकों से आता है और मैंने एक व्यक्ति विशेष का नाम लिया था - कर्पूरी ठाकुर, और यदि आपने मेरे तर्क को समग्रता से लिया होता तो शायद आप इतने जज़्बाती होकर यह तलाश न करते कि कहीं मेरे वक्तव्य की उत्पत्ति मेरी जातिगत पहचान से तो नहीं हुई है। आप जानते ही होंगे कि कर्पूरी ठाकुर नाई समुदाय से थे और सामाजिक न्याय के मंच पर उनका वक्तव्य शायद सबसे विचारोत्तेजक वक्तव्य कहा जा सकता है।

मेरे प्रस्तुतीकरण में वास्तव में जाति उन्मूलन की बात थी - जातिगत पहचानों को समाप्त किया जाना है, और उस विमर्श में गरीबी केंद्रीय चीज़ होगी। अब यह कथन कोई जांतिवादी कथन नहीं है। मुझे नहीं लगता कि कर्पूरी के राजनैतिक सोच में कोई जातिगत विमर्श था। अलबत्ता वे यह ज़रूर करते हैं, जो मैं भी एक व्यावहारिक राजनीति व राजनीति के सैद्धांतिक विमर्श की एक छात्र के रूप में करती हूं, कि उन रणनीतिक गठबंधनों पर विचार करें जो बनाए जा सकते हैं। और इन दो राज्यों में जो राजनैतिक नेतृत्व सत्ता में आया, वह काफी हद तक उन विचारों और रणनीतिक सोच का परिणाम था जो कर्पूरी ठाकुर जैसे नेताओं ने तैयार किए थे। और यहां मैंने जो कुछ कहा वह वास्तविक मैदानी अवलोकनों से उभरा है, जो मैं पिछले पूरे साल करती रही हूं, हालांकि उन राज्यों में नहीं जिनके नाम आपने लिए हैं। मगर इन दो राज्यों में, और दक्षिण के कुछ राज्यों में जो भी देखा, उससे यही लगता है कि यदि फोकस क्षेत्रीय स्तर पर होता, तो निर्धनतम लोगों पर लाद दी गई कई त्रासदियों को टाला जा सकता था। और मैं देखती हूं कि इस तरह की गलत नीतियों के शिकार सबसे पिछड़े लोग ही होते हैं। वे सचमुच सबसे गरीब जातियों के, सबसे कमज़ोर लोग होते हैं, और मैं वास्तव में प्राथमिकता निर्धारण का एक मॉडल प्रस्तुत कर रही थी। और यदि वह प्राथमिकता निर्धारण

सबसे कमज़ोर लोगों को किसी भी सामाजिक व्यवस्था के वितरण का आधार बनाए, तो वैकल्पिक संस्थाओं के बारे में सोच शुरू हो सकता है जो तार्किक विमर्श को आगे ले जाएगा। कुछ और भी है, या बस?

मीरा नंदा : आपने एक बहुत ही रोचक बात उठाई है; वॉल्टेयर की एक बहुत ही सुंदर पंक्ति हैः "यदि कोई भी आपको असंगत चीज़ों पर विश्वास करने को तैयार कर सकता है, तो वे आपसे अत्याचार करवा सकते हैं।" वे तर्कहीनता और हिंसा के बीच सम्बंध स्थापित करने की कोशिश कर रहे थे। मगर यह कहानी का एक अंश ही है। मैं आपसे सहमत हूं, यदि हम अपनी सारी गलत धारणाओं से निजात पा लें, तो भी मुझे नहीं लगता कि हम कम हिंसक हो जाएंगे क्योंकि लोगों के जीवन में गैर-तार्किकताओं और हिंसा और गड़बड़ियों के और भी कई स्रोत हैं। मगर मेरा कहना यह है कि यहां इस देश में और इस वक्त मुझे निजी तौर पर लगता है, उम्मीद करती हूं कि यह अतिशयोक्ति है, मगर मैं देखती हूं कि हिंदुत्व किसी भी भली चीज़ के लिए खतरा है। तो सवाल यह है कि आप कौन-सी लड़ाई लड़ें और कब। इस वक्त फोकस हमारे अपने बेतुकेपन पर है ताकि हम इस वक्त अत्याचार न करें, इस तरह की बात है।

राजेंद्र सिंह : मुझे लगता है कि थोड़ा स्पष्टीकरण ज़रूरी है क्योंकि प्रोफेसर मैथ्यूज़ आज जा रहे हैं। मैं जानना चाहूंगा कि, उदाहरण के तौर, यह दावा किसने किया था - हालांकि मैं विज्ञान या दर्शन में कोर्स के लिए शुक्रगुज़ार हूं जो आपने दिया - मगर मैं सोचता हूं कि आदर्शीकरण या अमूर्तीकरण, जैसा कि खुद आपने स्वीकार किया, किसी भी अन्वेषण की अनिवार्य शर्त है। सवाल यह नहीं है कि क्या संतरे को बिंदु पिण्ड मानने में कोई गलती है, सवाल यह है कि क्या प्रोटीन के एक समूह के रूप में इसके निरूपण या अम्लों के एक समूह के रूप में इसके अमूर्तीकरण या सुगंधों के समूह में इसके प्रस्तुतीकरण की बनिस्बत बिंदु पिण्ड के रूप में इसके निरूपण को ज़्यादा महत्व दिया जाए। मैं सिर्फ इतना स्पष्ट करना चाहता था कि संतरे को एक बिंदु पिण्ड निरूपित करना या मैथ्यूज़ का निरूपण या राजेंद्र सिंह द्वारा प्रोटीन समूह के रूप में निरूपण बराबर के अमूर्तीकरण या आदर्शीकरण हैं, जो सारे मापदंडों की पूर्ति करते हैं और इस बात का कोई विशेष कारण नहीं है कि किसी एक निरूपण को किसी भी अन्य अमूर्त आदर्श निरूपण से ज़्यादा महत्व दिया जाए।

माइकल मैथ्यूज़ : सोचता हूं इस पर संक्षिप्त-सा जबाव दे दूं। जवाब यह है कि यदि आप मुक्त पतन (free fall) का अध्ययन करना चाहते हैं, तो बिंदु पिण्ड को श्रम मूल्य या प्रोटीन से ज़्यादा महत्व देना होगा, और यदि आप संतरों के आर्थिक लेन-देन की जांच कर रहे हैं, तो बिंदु पिण्ड के रूप में अमूर्तीकरण आपकी मदद नहीं करेगा। तो प्राथमिकता इस बात पर निर्भर है कि आप क्या खोजबीन करना चाहते हैं।